

‘योग-साधना’ के संदर्भ में गुरु-शिष्य संबंध का समीक्षात्मक अध्ययन

आचार्य शीलक राम
असिस्टेंट प्रोफेसर
दर्शन-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

शोध-लेख सार

योग-साधना के क्षेत्र में गुरु-शिष्य संबंध का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस संबंध के सकारात्मक-नकारात्मक दोनों ही पहलू हैं। लेकिन समकालीन युग में इस संबंध के नकारात्मक पहलू को लेकर ही खूब लूट मची हुई है, खूब शोषण चल रहा है, जहां देखो वहां छीना-झपटी चल रही है। शुद्धि, साधना व गुरु - इन सबको करें तभी कुछ रूपांतरण होगा या उर्ध्वगमन होगा। केवल किसी को भी गुरु बनाने से कुछ भी होने वाला नहीं है। हां, भटकाव जरूर होगा। सही दृष्टिकोण से देखा जाए तो 'संतमत' नाम का कोई भी मत होता ही नहीं है। संतों का क्या मत हो सकता है? संत तो मत, वाद, सिद्धांत आदि बनाने से दूर ही रहते हैं।

मुख्य-शब्द : संत, योग-साधना, गुरु-शिष्य संबंध, साधना, समर्पण

1. जब जागो तभी सवेरा

व्यक्ति का वर्तमान जन्म ही सत्य नहीं है अपितु पूर्वजन्म भी सत्य है तथा पश्चात् जन्म भी सत्य होता है। यहां जन्म-जन्म के सत्संस्कार जब अभिव्यक्त होकर इस अवस्था में आते हैं कि उन पर आकर्षण के रूप में भगवान् की कृपा का प्रभाव पड़ सके, जब मनुष्य के अन्तःकरण में यह लालसा होती है कि मुझे अपने परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करने के लिये साधन करना चाहिए-तब सत्संग, सद्बिचार और शास्त्र के आधार पर इस लालसा को उज्जीवित एवं उदीप्त करना चाहिए। कहीं प्राचीन असत्कर्मों की संस्कारधारा आकर इसको दबा न दे, इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा



देनी चाहिए । ऐसे शुभ अवसर जीवन में बहुत कम आते हैं। जब लोहा गर्म हो तभी चोट मारी जानी चाहिए ।

2. किसको गुरु बनाएं - कौन सी साधना अपनाएं?

गुरु को बनाने तथा उसे मार्गदर्शन प्राप्त करने के संबंध में भी बड़ा झमेला है । लेकिन इस स्थिति में यह एक बहुत बड़ी कठिनाई सामने आती है कि कौन-सा साधन किया जाये । साधारण साधक को अपने पूर्वजन्म की प्रवृत्तियों और वर्तमान अधिकार का तो पता होता नहीं, इतनी मंजी हुई बुद्धि भी नहीं होती कि वह अपने अधिकार के अनुसार साधन का चुनाव कर सके । इसी समय बहुत से किसी भी साधन की प्रशंसा सुनकर उन्हें करने लग जाते हैं, परन्तु अपनी ही बुद्धि से निश्चित होने के कारण उस पर उनका दृढ़ विश्वास नहीं हो पाता व जब कभी कहीं दूसरे साधन की प्रशंसा सुनते हैं, तब उनका मन विचलित हो जाता है और वे अपने वर्तमान साधन को झुट्टि से युक्त समझकर दूसरा शुरू कर देते हैं । यह एक प्रकार से साधन का व्यभिचार है । इससे सावधान रहें । विधि, मैथड या क्रिया का निर्धारण किसी अनुभूति- संपन्न गुरु के मार्गदर्शन में हो तो बेहतर रहता है ।

3. साधना डावांडोल मन से नहीं हो सकती

यदि खोदकर पानी की प्राप्ति करनी है तो खुदाई एक ही जगह करें । नई-नई जगहों पर खुदाई करने से पानी नहीं मिलेगा । आज कृष्ण का ध्यान, कल शिव का ध्यान, आज द्वादशाक्षर तो कल पंचाक्षर, आज कैलाश की ओर तो कल कन्याकुमारी की ओर - यह कोई साधना नहीं है । इस प्रकार कहीं भी नहीं पहुँच सकेंगे । साधना के लिए ऐसे विश्वास की आवश्यकता है जो आकाश से भी विशाल हो, समुद्र से भी गम्भीर हो, सुमेरू से भी भारी और वज्र से भी कठोर हो । परंतु साधना पर ऐसा विश्वास प्राप्त कैसे हो? नई-नई साधनाएं न करें, अपितु एक साधना को स्वीकार करके उसी का अभ्यास करें ।

4. साधना क्या है?

कोई भी विधि तब तक कारगर नहीं हो सकती जब तक कि देह-शुद्धि, श्वास-शुद्धि व मन की शुद्धि न कर ली जाए। इसके पश्चात् ही विधि या साधना का निर्धारण हो सकता है। इस प्रकार का विश्वास प्राप्त होता है तब, जब साधना का उद्गम हृदय के अंतराल से हुआ हो, उस साधना का एक-एक अंश हृदय का स्पर्श करने वाला हो। ऐसा तभी हो सकता है जब हृदय के आंतरिक रहस्य को जानने वाले और उस साधना के द्वारा लक्ष्य तक पहुँचे हुए महापुरुष ने साधक को स्पष्ट रूप से साधन से साध्य तक का मार्ग दिखला दिया हो। साध्य और साधक के बीच की दूरी ही साधना है जिनको एक दूसरे के निकट पता नहीं है, वह साधना को धाला, कैसे जान सकता है? इस तथ्य को ख्याल में रखें।

5. आधुनिक युग में भगवानों, गुरुओं व स्वामियों की भरमार

समकालीन युग में जहाँ देखें वहीं विभिन्न चमकदार पोशाकें पहने गुरु मिल जाएंगे। जबरदस्ती करके शिष्य बनाए जाते हैं। इस समकालीन युग को आधुनिक लोग तो उन्नति का युग कहते हैं, परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो अधःपतन का ऐसा निकृष्ट युग कभी नहीं आया था। प्रताड़ना और विश्वासघात तो इस युग की विशेष देन है। आजकल ऐसे बहुत से लोग प्रकट हो गये हैं, जो अपने को भगवान् का संदेशवाहक अथवा अथवा स्वयं भगवान् बतलाते हैं। भोले-भाले साधक उनकी मीठी-मीठी बातों में आकर अथवा उनके रहस्यात्मक वाग्जाल में फँसकर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं और 'माया मिली न राम' कहावत चरितार्थ करते हैं। ऐसी स्थिति में किस पर श्रद्धा की जाये? किसकी शरण में होकर आगे का मार्ग तय किया जाये? कैसे यह विश्वास किया जाये कि यह मार्ग ठीक है और इस पर चलकर हम अपने गंतव्य स्थान तक पहुँच सकते हैं? ये बातें ठीक होने पर भी श्रद्धालु लगने वाले साधक पर लागू नहीं होती। उसकी दृष्टि में संसारी सम्पत्तियों का कोई मूल्य नहीं होता, उसकी श्रद्धा और लगन को कोई टग नहीं सकता। वह आँख बंद करके संसार की ओर से सचमुच अंधा होकर भगवान् की ओर चलना चाहता है और चलता है। यह एक बहुत बड़ी अंधी गुफा है जिसके अनजान रास्तों व अंधेरे में



चलना साधक की विवशता है । लेकिन फिर भी सावधान रहें । सावधानता, सजगता एवं जागरण जरूरी है ।

6. उगे कौन जाते हैं?

साधना के क्षेत्र में भी खूब उगी होती है। गुरुओं की लूट का भी कोई अंत नहीं है । सही बात यह है कि प्रायः वे ही लोग उगे जाते हैं, जो दूसरे को उगना चाहते हैं । शास्त्रों में ऐसा वर्णन है कि अहिंसा की शुद्ध प्रतिष्ठा होने पर साधक के सामने पशु-पक्षी तक हिंसा नहीं कर सकते ।¹ वही बात श्रद्धावान् के सम्बन्ध में भी है । उसको कोई धोख नहीं दे सकता । उसे तो केवल अपनी श्रद्धा-सम्पत्ति की ही रक्षा करनी चाहिये ।

फिर क्या किसी पर यों ही श्रद्धा कर लेनी चाहिये? कुछ भी छान-बीन नहीं करनी चाहिये? अवश्य करनी चाहिये और गुरु करने के पहले तो अवश्य ही कर लेनी चाहिये । परंतु उस छान-बीन का स्वरूप दूसरा ही होता है । गुरुदेव के नाम-श्रवण, दर्शन, आलाप और स्मरण-मात्र से ही प्राणों में शांति का संचार होने लगता है, चिर दिन की प्यास बुझने लगती है, घोर अतृप्ति में भी तृप्ति का अनुभव होने लगता है ।² जिनकी प्रतीक्षा थी, जिनके लिये प्राण तड़फड़ा रहे थे, जिनके बिना मनुष्य अंधे की भांति भटक रहा था, उन्हीं के मिलने पर हृदय शीतल न हो जाये- ऐसा नहीं हो सकता। गुरुदेव की यह सबसे बड़ी पहचान है, परंतु यह पहचान भी सर्वसाधारण के लिये व्यवहारिक नहीं है । महापुरुष शरीर और अन्तःकरण से ऊपर उठे रहते हैं, भगवान् से एक रहते हैं, इसलिये उनकी कोई व्यवहारिक पहचान होती भी नहीं । वस्तुतः वे परमार्थस्वरूप हैं । भगवान् ही गुरु और गुरु ही भगवान् है । यह केवल भाव नहीं है, क्योंकि परमार्थ सत्य वस्तु को परमार्थ सत्य वस्तु के सिवा और कौन दिखा सकता है? इसी से जन्मों तक भटकने के बाद जब अन्तःकरण उनके दर्शन के

1. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र (साधनपाद-35)

2. गुरुगीता, श्लोक 6



योग्य होता है, तभी वे कृपा करके दर्शन देते हैं और अपने ज्ञान एवं शक्ति से अपने स्वरूप में मिला लेते हैं ।

नमस्ते नाथ भगवन ।

शिवाय गुरुरूपिणे ।

विद्यावतार संसिद्धयै

स्वीकृतानेक विग्रहः ॥³

3. गुरुगीता, श्लोक 200



7. गुरु कौन

गुरु अपने मूल-विकारों की शुद्धि करके चित्त को निर्मल दर्पण की तरह बना लेते हैं। वे भगवत्ता से अद्वैत की अनुभूति कर लेते हैं। जगत् में जिसे परमार्थतत्त्व अथवा भगवान् कहते हैं, उन्हीं के मूर्तिमान् अनुग्रह का नाम गुरु है। गुरु का दीख पड़ने वाला रूप मनुष्य रूप नहीं है, वह तो विशुद्ध चैतन्य है।⁴ भला, इस जड़ जगत् में विशुद्ध चेतन के अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो अज्ञान का पर्दा फाड़कर जीव को उसके स्वरूप की उपलब्धि करा दे। राजकुमार को जो यह चिरकाल से ध्रम हो रहा है कि मैं एक दीन, हीन, कंगाल भिक्षुक हूँ, उसको उसके स्वरूप और अधिकार का ज्ञान कराकर स्वपद पर सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले गुरुदेव ही हैं।⁵ शिष्य गुरु का उत्तराधिकारी है अर्थात् गुरु का ज्ञान ही शिष्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञान की दृष्टि से परमात्मा, गुरु और शिष्य एक हैं। एकत्व के बोध में ही शिष्य की पूर्णता है। तभी तो यह शास्त्रवाक्य सार्थक है- 'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म'। इस रूप में शिष्य उन्हें पकड़ नहीं सकता, वे स्वयं ही शिष्य के सामने प्रकट होकर अपने को पकड़ा देते हैं।

श्री गुरुं परमानंद

वंदे ह्यानंदविग्रहम् ।

यस्य सत्रिधिमात्रेण

चिदानंदायते नमः ॥⁶

8. शिष्य की मनःस्थिति कैसी होनी चाहिए

यह महत्त्वपूर्ण है कि गुरु की महिमा केवल शिष्य ही समझ सकता है सो भी तभी जब गुरु उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं और कोई उन्हें जान नहीं सकता, क्योंकि वे अपने को गुप्त रखते हैं। शिष्य जानता है कि मेरे गुरुदेव सर्वज्ञ हैं, वे मेरे और चराचर जगत् के सम्पूर्ण

4. उपरिवत्, श्लोक 151

5. उपरिवत्, श्लोक 43

6. उपरिवत्, श्लोक 201



रहस्यों के एकमात्र ज्ञाता है ।⁷ वे सर्वशक्तिमान हैं, बड़े-बड़े देवता भी उनकी शक्ति से शक्तिमान् होकर अपना-अपना काम कर रहे हैं, वे परम कृपालु हैं, क्योंकि कृपापरवश होकर ही उन्होंने जीवों के उद्धार की लीला का विस्तार किया है । जब वे मेरे हृदय की बात जानते हैं, उसको पूर्ण करने की शक्ति रखते हैं, तब वे परम कृपालु उसे पूर्ण किये बिना रह ही नहीं सकते । शिष्य की यदि तैयारी हो तो शक्तिपात स्वयं ही हो जाता है । गुरु तो सदैव ही तत्पर रहते हैं, शिष्य ही तत्पर नहीं होता है ।

9. गुरु भगवान् ही हैं

वास्तव में गुरु भगवान् ही हैं । सीधे हम भगवान् को न तो देख सकते तथा न ही जान सकते । गुरु ही हमें इसके योग्य बनाता है कि हम भगवान् की अनुभूति कर सकते हैं । हालांकि यद्यपि परमात्मा के ही समक्ष गुरुदेव के लक्षण भी अनिर्वचनीय हैं, तथापि लोक-व्यवहार के लिये शास्त्रों में उनका वर्णन भी होता है। उन आदर्श, सद्गुण, सद्भाव और सत्कर्मों को देखकर, जो कि स्वभाव से ही सद्गुरु में होते हैं, साधक अपने जीवन का निर्माण करता है और मुमुक्षु उन्हें महापुरुष के रूप में पहचानकर उनकी शरण ग्रहण करता है । महापुरुषों के लिये तो लक्षणों की कोई आवश्यकता ही नहीं हुआ करती । उनका वर्णन केवल साधकों के लाभार्थ ही होता है । सद्गुरु कैसा होना चाहिए, इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है-

गुरु शिवो गुरुर्देवो

गुरुर्बन्धु शारीरिणाम् ।

गुरुरात्मा गुरुर्जीवो

गुरुोरुयव विश्रते ॥⁸

मातृतः पितृतः शुद्ध शुद्धभावो जितेन्द्रियः ।

सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥

7. उपरिवत्, श्लोक 151

8. उपरिवत्, श्लोक 148



परोपकारनिरतो जपपूजादित्परः ।

अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपरमः ॥

योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयगमः ।

इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागसम्मतः ॥⁹

अर्थात् 'जो गुरु कुलीन हो, सदाचारी हो, जिसकी भावनाएं शुद्ध हों और इन्द्रियां वश में हों, जो समस्त शास्त्रों के सार उपासना के रहस्य को जानता हो, समस्त शास्त्रों के तात्पर्यस्वरूप ब्रह्म को जानता हो, जो परोपकार में रस का अनुभव करता हो, जप और पूजा आदि में संलग्न हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, शांति जिसे कभी न छोड़ती हो, जो वेद और वेदार्थ का पारदर्शी हो, योगमार्ग में जिसकी पूर्ण प्रगति हो, जो हृदय के लिये देवता के समान सुखकर हो तथा और भी अनेकों गुण जिसमें स्वभाव से ही निवास करते हों, वहीं शास्त्रसम्मत गुरु है । ऐसा गुरु कभी होंगी नहीं हो सकता । ऐसा गुरु कभी मोह-माया के पीछे पागल होकर अपने शिष्यों का शोषण नहीं कर सकता ।

10. गुरु होने की योग्यता

गुरु कोई ऐसे ही नहीं बन जाता । गुरु बनने हेतु बाहर-भीतर की शुद्धि जरूरी है । जिसे हम गुरु बनाना चाहते हैं, चार प्रकार की शुद्धि होना जरूरी है- आनुवंशिक शुद्धि, क्रियागत शुद्धि, मानस शुद्धि और विशुद्ध चैतन्य में स्थिति रूप परम शुद्धि। जो जानता बहुत है, परंतु करता कुछ नहीं, किया कुछ नहीं, उससे साधक को साधना में दृढ़ और स्थिर होने की शिक्षा नहीं मिल सकती। जिसकी इंद्रियां अपने वश में नहीं हैं, वह दूसरे को जितेन्द्रिय होने की शिक्षा नहीं दे सकता, यदि दे भी तो उसकी सुनेगा कौन? इसलिये गुरु ऐसा ही बनाना चाहिए, जो सिद्ध होने पर भी साधक हो और इसी से गुरु में उपर्युक्त लक्षणों की आवश्यकता होती है । जिनमें ये लक्षण दीखते हैं, उनमें स्वाभाविक ही श्रद्धा हो जाती है । श्रद्धा करनी

9. शारदातिलक, 2-142-144

नहीं पढ़ती, होती है। जिसमें श्रद्धा हो, उसमें भगवान् का दर्शन और वहाँ से प्रवाहित होने वाले भागवत ज्ञान का स्वीकार ही गुरुकरण है।

मोहादिरहितः शांतो

नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

तृणीकृत ब्रह्मविष्णु

वैभवः परमो गुरुः ॥¹⁰

11. गुरु को भगवान् रूप में देखें

गुरु को भगवान् के रूप में देखना ठोंग भी हो सकता है तथा सत्य समर्पण भी हो सकता है। कई बार जब शिष्य का समर्पण सत्य होता है तो गुरु बेशक ठोंगी हो, शिष्य का कल्याण हो ही जाता है। ध्यान रहे कि जब तक हम गुरु को भगवान् के रूप में नहीं देख पाते, उनसे प्रवाहित होने वाले भागवत ज्ञान को नहीं स्वीकार करते और उनकी प्रत्येक क्रिया हमें लीला के रूप में नहीं मालूम होने लगती, तब तक गुरुकरण नहीं हुआ है- ऐसा समझना चाहिए। जब तक गुरु गुरु नहीं हुए हैं, तब तक चाहे जो समझ लीजिए। गुरु होने के पश्चात् उन्हें भगवान् से नीचे कुछ भी समझना पतन का हेतु है।¹¹ इस भागवतस्वरूप में वे ही एक हैं, जगत् के और जितने भी गुरु हैं, वे मेरे गुरु के लीलाविग्रह हैं, सर्वत्र उन्हीं का ज्ञान और उन्हीं का अनुग्रह प्रकट हो रहा है।

12. गुरुओं का फलता-फूलता व्यवसाय

गुरुओं का काम इस समय शिष्यों का उद्धार करना न होकर अपनी दुकान को चलाना ही रह गया है। शिष्य-संख्या में बहुतेरी से दुकान खूब चलती है। जिसने स्वयं को नहीं नहीं जाना वे ही ऐसा लूट-खसोट का प्रपंच रचते हैं। गुरु-शिष्य संबंध में इस समय साधना का महत्त्व ही नहीं रह गया है। एक तरह से इस संबंध का भी पश्चिमीकरण सा हो गया है। इस समय विचित्र हो रहा है। पहले गुरु वर्षों तक शिष्य की परीक्षा

10. गुरु गीता, श्लोक 173

11. उपरिवत्, श्लोक 101

करते थे, तब उसे स्वीकार करते थे। परंतु अब तो गुरुओं की भरमार हो गयी है और जैसे बाजार में दलाल अपनी-अपनी दुकानों पर लाने के लिये ग्राहकों को परेशान करते हैं, वैसे ही गुरु कहलाने वाले लोग भी अपना शिष्य होने के लिये लोगों को तरह-तरह से प्रलोभित करते हैं। सिद्धान्ततः सभी को शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके लिये बहुत ऊँचे अधिकार की आवश्यकता होती है। अशुद्ध पात्र में अच्छी चीज रख दी जाय तो वह बिगड़ जाती है। अनधिकारी शिष्य उत्तम साधना को सुरक्षित नहीं रख सकता। इसलिये शिष्य की परीक्षा भी आवश्यक है। संक्षेप में यदि कहा जाय तो जो सद्गुरु को परमात्मा¹² के रूप में पहचानकर शरीर, धन और प्राण उनके चरणों से निवेदन करके उनके ज्ञान और सिद्धि को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, वही शिष्य है- ऐसा कहना पड़ेगा। अनुभूतिसंपन्न गुरु एवं सही शिष्य मिलना शायद सदैव से दुर्लभ ही रहा है।

13. ऐसे शिष्यों को गुरुओं की जरूरत ही नहीं

यदि किसी शिष्य अधिकारी ने पूर्व जन्म में साधना करके अपने चित्त को निर्मल बना दिया है तो उसे इस जन्म में गुरु की जरूरत नहीं होती है। 'ओशो रजनीश' एक ऐसे ही अनुभूति-संपन्न ऋषि थे जिन्होंने पूर्व जन्म में अनेक साधनाएं कर रखी थीं। किसी प्राचीन अनाम ग्रंथ में अग्रलिखित प्रकार के शिष्यों को बिना गुरु के ही ज्ञान हो जाता है -

शिष्यःकुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः ।

अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः ॥

हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्ययक्तनास्तिकः ।

स्वधर्मनिरतो भक्तया पितृमातृहितोद्यतः ॥

व मनः कायवसुभिर्गुरुषुश्रुषणे रतः ।

त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः ॥

गुर्वाज्ञापालार्थं हि प्राणव्ययरतोद्यतः ।

12. गुरु गीता, श्लोक 96



करते थे, तब उसे स्वीकार करते थे। परंतु अब तो गुरुओं की भरमार हो गयी है और जैसे बाजार में दलाल अपनी-अपनी दुकानों पर लाने के लिये ग्राहकों को परेशान करते हैं, वैसे ही गुरु कहलाने वाले लोग भी अपना शिष्य होने के लिये लोगों को तरह-तरह से प्रलोभित करते हैं। सिद्धान्ततः सभी को शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके लिये बहुत ऊँचे अधिकार की आवश्यकता होती है। अशुद्ध पात्र में अच्छी चीज रख दी जाय तो वह बिगड़ जाती है। अनधिकारी शिष्य उत्तम साधना को सुरक्षित नहीं रख सकता। इसलिये शिष्य की परीक्षा भी आवश्यक है। संक्षेप में यदि कहा जाय तो जो सद्गुरु को परमात्मा¹² के रूप में पहचानकर शरीर, धन और प्राण उनके चरणों से निवेदन करके उनके ज्ञान और सिद्धि को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, वही शिष्य है- ऐसा कहना पड़ेगा। अनुभूतिसंपन्न गुरु एवं सही शिष्य मिलना शायद सदैव से दुर्लभ ही रहा है।

13. ऐसे शिष्यों को गुरुओं की जरूरत ही नहीं

यदि किसी शिष्य अधिकारी ने पूर्व जन्म में साधना करके अपने चित्त को निर्मल बना दिया है तो उसे इस जन्म में गुरु की जरूरत नहीं होती है। 'ओशो रजनीश' एक ऐसे ही अनुभूति-संपन्न ऋषि थे जिन्होंने पूर्व जन्म में अनेक साधनाएं कर रखी थीं। किसी प्राचीन अनाम ग्रंथ में अग्रलिखित प्रकार के शिष्यों को बिना गुरु के ही ज्ञान हो जाता है -

शिष्यःकुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः ।

अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः ॥

हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्ययक्तनास्तिकः ।

स्वधर्मनिरतो भक्तया पितृमातृहितोद्यतः ॥

व मनः कायवसुधिर्गुरुषुश्रृषणे रतः ।

त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः ॥

गुर्वाज्ञापालार्थं हि प्राणव्ययरतोद्यतः ।

12. गुरु गीता, श्लोक 96



विहृत्य च स्वकार्याणि गुरुकार्यरतः सदा ।
 दासवन्निवसेद्यस्तु गुरौ भक्तया सदा शिषुः ।
 कुर्वन्नाज्ञां दिवारात्रौ गुरुभक्तिपरायणः ॥
 आज्ञाकारी गुरोः शिष्यो मनोवाक्याकर्मभिः ।
 यो भवेत्स तदा ग्राह्यो नेतरः शुभकांडया ॥
 मन्त्रपूजारहस्यानि यो गोपयति सर्वदा ।
 त्रिकालं यो नमस्कुर्वादागमाचारतत्त्ववित् ॥
 स एव शिष्यः कर्तव्यो नेतरः स्वल्पजीवनः ।
 एतादशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः ॥

जो भले कुल का हो, सदाचारी हो, सिद्धि के लिये तत्पर हो, वेदपाठी हो, चतुर हो और कामवासना से रहित हो, जो समस्त प्राणियों का हित ही चाहता हो, आस्तिक हो, नास्तिकों का संग छोड़ चुका हो, अपने धर्म में प्रेम रखता हो, भक्तिभाव से माता-पिता के हित में संलग्न हो, कर्म-मन-वाणी और धन से गुरुसेवा करने के लिये लालायित रहता हो, गुरुजनों के सामने जाति, विद्या, धन आदि का अभिमान न रखता हो, अपने काम छोड़कर भी गुरु के काम में लगा रहने वाला हो, जो गुरु के पास दास की भांति निवास करता हो, शिशु के समान आज्ञा-पालन करता हो और दिन-रात गुरुभक्ति में डूबा रहता हो, जो मन, वाणी, शरीर और कर्म से गुरु की आज्ञा का पालन करता हो- वही शिष्य रूप में स्वीकार करने योग्य है, दूसरा नहीं । जो मंत्र और पूजा के रहस्यों को गुप्त रखता है, त्रिकाल नमस्कार करता है और शास्त्रीय आचार के तत्त्वों को जानता है, वही शिष्यरूप से स्वीकार करने योग्य है, दूसरा नहीं । क्योंकि जो इन गुणों से युक्त होता है, वही शिष्य होता है । उपर्युक्त को पढ़ने से यह ध्रम हो सकता है कि ये लक्षण शिष्य के हैं या गुरु के? प्रायः इस तरह के प्रसंगों का गलत अर्थ भी लगाया जाता है । इससे गुरु का पद बदनाम हुआ है । चहुं तरफ गुरुओं की दुकानें खुली हुई हैं । उग व छली लोग कहीं भी घुसपैठ करके आधिपत्य कर लेते हैं । आजकल धर्म, अध्यात्म व योग एक ऐसा ही क्षेत्र है जहाँ पर इन्होंने डेरा डाला हुआ है ।

14. शिष्य के लक्षण हैं या गुलाम के ?

उपर्युक्त को पढ़ने से ऐसा लग सकता है कि ये लक्षण शिष्य के हैं या गुलामों के । ऊपर से देखने पर तो कोई भी भेद दिखलाई नहीं देता है । वास्तव में ऊपरी भेद है भी नहीं । भेद तो चेतनागत है । चेतना तक जाने की फूसत किसे है? हर तरफ धन-दौलत, माया व सैक्स का कुचक्र चल रहा है ।

15. उपासना-मार्ग के रहस्य गुरु ही दे सकता है

गुरु के प्रति शिष्य के हृदय में जितनी श्रद्धा, प्रेम और उनके महत्त्व का ज्ञान रहता है, उन्हीं के अनुसार उनसे शिष्य का व्यवहार होता है । शास्त्रों में गुरु-महिमा और शिष्य-लक्षण का इतना विस्तार है और उनका इतना अवान्तर भेद है कि यदि संक्षेप से भी उनका उद्धरण दिया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रंथ तैयार हो सकता है। संक्षेप में इतना समझ लेना चाहिये कि गुरु के बिना उपासना- मार्ग के रहस्य नहीं मालूम होते और न उसकी अङ्गुलियाँ दूर होती हैं। जो उपासना करना चाहता है, वह गुरु के बिना एक पग भी नहीं बढ़ सकता ।¹³

16. गुरु पर ही न रुकें रहें

गुरु दिव्य सत्ता है । गुरु प्रकाश है । गुरु मार्गदर्शन है। गुरु, मंत्र और इष्ट देवता - ये तीन नहीं, एक है । गुरु के बिना शेष दो की प्राप्ति असंभव है । शिष्य अधिकारहीन होने पर भी यदि सद्गुरु की शरण में पहुँच जाये तो वे उसे अधिकारी बना लेते हैं । पारस का स्वभाव भी लोहे को सोना बनाना है । इसलिये जिनके हृदय में भगवत्प्राप्ति की इच्छा है, जो वास्तव में साधना करना चाहते हैं, उनके लिये श्रीगुरुदेव की शरण में जाना सर्वप्रथम कर्तव्य है । लेकिन साधना करते-करते एक समय ऐसा भी आता है कि जब गुरु को भी छोड़ देना पड़ता है । उस समय यदि यह हिम्मत का कृत्य न किया तो उन हेतु गुरु ही बाधा बन जाता है । बेड़ियाँ सोने की हों या लोहे की या सामान्य रस्से की, बेड़ियाँ बेड़ियाँ ही

13. गुरु गीत, श्लोक 15



होती है। आध्यात्मिक पथ पर परमानुभूति के अंतिम पड़ाव पर गुरु का त्याग करना ही पड़ता है। इस दुस्साहस को कुछ विरले ही शिष्य कर पाते हैं। गुरु अपने शिष्य को जहां मोक्ष की प्राप्ति तक करवा सकता है वहीं पर वह उसको अज्ञानाधिकार के गर्त में भी धकेल सकता है। गुरुसत्ता के नाम पर पाखंड व शोषण का व्यवसाय सदैव से चलता आया है।¹⁴

17. अकेले गुरु बनाने से काम नहीं चलेगा

गुरु मार्गदर्शन कर सकता है क्योंकि वह दिव्यता की अनुभूति कर चुका होता है। उस मार्ग पर चलने का कार्य तो शिष्य को ही करना पड़ेगा। चले बिना मंजिल नहीं मिलेगी। साधना के बिना स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा। बस गुरु बनाकर 'नाम' लेने से कुछ भी नहीं होने वाला। सतत् साधना करें। जीवन-मरण का प्रश्न बनाएं साधना को, तभी कुछ रूपांतरण हो सकता है। साधना से रूपांतरण व रूपांतरण से अनुभूति होगी। यह सब शुद्धि-क्रियाओं के पश्चात् ही करें। आजकल गुरु कुछ का कुछ ऊटपटांग करते व करवाते रहते हैं - इससे शिष्यों का अहित तो होता ही है, इसके साथ-साथ भारतीय योग-परम्परा भी कलंकित होती है। तो गुरु भी बनाएं, साधना भी करें तथा गुरु को छोड़ें भी। गुरु बंधन नहीं देता, अपितु आजादी देता है। अध्यात्म, ध्यान, योगादि परम आजादी है। गुरु यहीं पर प्रवेश दिलवाता है। गुरु अवश्य बनाएं, लेकिन गुरुडम से बचें। गुरुडम से आध्यात्मिक प्रगति रूक जाती है। अनेक व्यक्ति केवल गुरु बनाकर अपने को धन्य मान लेते हैं। लेकिन यह तो ऐसा ही है जैसे कि पानी मिल जाए, परंतु उसको पीया न जाए। अब बिना पानी पीए किसी की प्यास बुझ सकती है? प्यास को मिटाने हेतु पानी के संबंध में जानकारी ही काफी नहीं है, उसे पीएं भी।

14. आंशो रजनीश, पंडित, पुरोहित व राजनेता : मानव आत्मा के शोधक,
पृ० 40



18. 'अथ योगानुशासनम्'

महर्षि पतंजलि ने योग को अनुशासन कहकर उसे चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है।¹⁵ चित्त की वृत्तियों का विरोध हो जाना योग है। कुछ ऐसा करें, कुछ ऐसी साधना करें, कुछ ऐसी विधि अपनाएं कि जिससे चित्त की वृत्तियां शांत हो जाएं। शांत-चित्त दर्पण की तरह निर्मल हो जाता है। जब चित्त में विचाररूपी लहरें उठनी बंद हो जाती हैं तो चित्त आत्मा के स्वरूप को दिखाता है। आत्मा का सत्य-साक्षात्कार तभी होता है जब चित्त शांत व लहर रहित सरोवर की तरह हो जाता है। पुरुष या आत्मा का सत्य-स्वरूप तभी उद्घाटित होता है।¹⁶ मलिन चित्त में सत्य-स्वरूप का प्रतिबिम्ब सत्य न होकर कुछ अन्य ही होगा। तो साधना करें, योग करें, चित्त की वृत्तियों का उठना बंद करें- तभी कुछ हो सकेगा। अन्यथा इस या उस तरफ भटकने से हानि ही हानि होगी। मामूली सा भी संकल्प नहीं है, थोड़ा सा भी धैर्य नहीं है, इच्छाशक्ति तुरंत उतार दे देती है, बात-बात में गुस्सा उठता है- ऐसे में भी कोई अपने आपको योगी या योगगुरु कहता फिरे तो इसे मूढ़ता ही कहा जाएगा। योग का अनुशासन व वृत्तियों का निरोध होगा, तो यह सब अपने आप ही जाएगा, इस हेतु फिर अतिरिक्त प्रयास करने की जरूरत नहीं है। गुरु की अंध-पूजा के बजाय यदि उनके निर्देशन में पूरे संकल्प से साधना की जाए तो शीघ्र परिणाम मिलने की आशा की जा सकती है।

उपर्युक्त शोध-पत्र के शीर्षक 'योग-साधना के संदर्भ में गुरु-शिष्य संबंध का समीक्षात्मक अध्ययन' के अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि योग-साधना के क्षेत्र में गुरु-शिष्य संबंध का बहुत बड़ा महत्त्व है।

15. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र (समाधिपाद-1)

16. महर्षि पतंजलिकृत 'योगसूत्र' एवं महर्षि कपिल रचित 'सांख्यसूत्र' का इस हेतु अध्ययन करना चाहिए। योगसूत्र समाधिपाद के सूत्र-2 तथा सांख्य-सूत्र (तृतीयोध्याय) के सूत्र 30 से लेकर 45 तक पढ़ने चाहिए। इसके अतिरिक्त ओशो रजनीश की पुस्तकों यथा 'रजनीश ध्यान योग', 'जिन खोजा तिन पाईया' व 'तंत्र-सूत्र' का भी अध्ययन करना चाहिए।



इस संबंध के सकारात्मक-नकारात्मक दोनों ही पहलू हैं। लेकिन समकालीन युग में इस संबंध के नकारात्मक पहलू को लेकर ही खूब लूट मची हुई है, खूब शोषण चल रहा है, जहां देखो वहां छीना-झपटी चल रही है। शुद्धि, साधना व गुरु - इन सबको करें तभी कुछ रूपांतरण होगा या उर्ध्वगमन होगा। केवल किसी को भी गुरु बनाने से कुछ भी होने वाला नहीं है। हां, भटकाव जरूर होगा। सही दृष्टिकोण से देखा जाए तो 'संतमत' नाम का कोई भी मत होता ही नहीं है। संतों का क्या मत हो सकता है? संत तो मत, वाद, सिद्धांत आदि बनाने से दूर ही रहते हैं। यह इस तरह का कार्य तो विचारक, दार्शनिक, बौद्धिक या तार्किक ही कर सकते हैं। संत तो जीवन को जीते हैं, सिद्धांत-निर्माण नहीं करते। वे तो कुछ ऐसे स्वाद, ऐसी किसी मस्ती, ऐसी किसी अनुभूति को पा चुके होते हैं कि जिसके पश्चात् उनकी सारी वासनाएं व सारी इच्छाएं शांत हो जाती हैं। सम्राट बन जाने पर क्या सड़कों पर हाथ फेंलाकर भीख मांगी जाती है, पूरी धरा का स्वामी बनने पर क्या कोई जमीन के 100 गज के टुकड़े हेतु मारामारी करेगा या जिसने मधुर जल के झरने को पा लिया हों वह एक गिलास पानी के लिए किसी प्रकार का उत्पाद मचाएगा? नहीं, कोई भी ऐसा नहीं करेगा। जिनको साधना के माध्यम से परमात्मा की अनुभूति हो जाती है, वे ऐसे तुच्छ पचड़ों में नहीं पड़ते। हां, ऐसा हो सकता है कि उनकी जीवन-शैली से सिद्धांतों, वादों का निर्माण हो जाए, लेकिन वे स्वयं इस हेतु कोई प्रयास नहीं करते हैं। विचारों के जंगल में ही उलझा रहा, तो संत ही कैसा? विचार होंगे तो उनका पक्ष व विपक्ष भी होगा और यदि पक्ष व विपक्ष हुआ तो समर्थन व विरोध भी करना पड़ेगा। इसी समर्थन व विरोध से झगड़ों का सिलसिला शुरू होता है। संत कभी भी ऐसी मूढ़ता नहीं कर सकते और यदि ऐसी मूढ़ता कोई करता भी हो और इसके बावजूद अपने आपको संत कहता हो, तो ऐसे व्यक्ति की बातों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।